THE ECONOMIC TIMES

Date:06-06-22

Busting the Smart Citizen Myth

Kunal Kumar, [The writer is director, Smart Cities Mission, ministry of housing and urban affairs, GoI.]

Citizen engagement lies at the core of acity's development. But who is the citizen? Is there a standardised citizen —an interchangeable entity with no distinct personality, preferences or history? Are citizens merely beneficiaries in the development process?

Like cooking or any other skill acquired and honed over time to give the product a special, distinctive characteristic — in the case of food, taste — in any neighbourhood, local knowledge continuously accumulates over time through a web of daily practices, interactions and experiences among the neighbourhood's constituents. Their worm's-eye view and minute observations of the environment nourish the neighbourhood. Unlike an urban planner appointed to create a plan for the neighbourhood who does not have to live with the consequences of his own advice, the neighbourhood has its 'skin in the game', a direct stake in the outcomes of application of its knowledge.

This constantly evolving body of knowledge of, and in, a neighbourhood cannot be matched by any individual or organisation or any group. In that sense, the urban planner's professional, scientific and accomplished knowledge of planning is quite like a generic recipe that will produce suboptimal results, unless it consciously draws upon the nuanced, unwritten, contextual local knowledge — the Ingredient X — that resides in the residents of the neighbourhood.

There is a fundamental difference between generic rules and local knowledge. Urban planning, for example, takes place in a unique place (neighbourhood, culture) at a unique time (current affairs, demography) and has unique goals (needs, plans). A meticulous implementation of generic planning rules — building regulations, development rules, etc — disregarding local specifics such as culture and usage patterns will invite practical failures and public disillusionment. Engineers creating roads for the mobility of pedestrians and vehicles fail to account for unplanned activities like windowshopping, street-vending, dog-walking, meeting friends, etc. This failure diminishes the user experience significantly. The inability to dovetail local knowledge into generic processes leads to suboptimal functionality of the created assets.

Which brings one back to the citizen. The citizen is a custodian of local knowledge, initiative and experience, and provides the neighbourhood its distinct identity. Citizens form communities, and communities aggregate into neighbourhoods, each with their unique culture, history and repositories of local knowledge. The citizen not only contributes to, but is also enriched by, such knowledge as it churns through multiple, stochastic feedback loops active within the nei- ghbourhood. Cities that fail to draw upon this priceless asset will miss out on a wide range of skills and experience, thereby failing in their aspirations to build healthier communities, stronger economies and sustainable environments.

Which also leads one to the myth of the smart citizen. How often do we hear people say that 'our cities will become smart only when our citizens become smart'? The term 'smart citizen' itself is a tautology, much like stating '8 a. m. in the morning'. It's time to shun the idea of an 'abstract' citizen. Citizens are unique, diverse, have different genders, needs and aspirations. They possess the city's 'secret recipe'.

If only cities could tap into this invaluable asset by nurturing a tradition of continuous dialogue and negotiation, creating mechanisms for exchange of ideas between diverse constituents, and institutionalising the test-learn-scale approach to breed locally relevant solutions, they would function, grow and adapt better.

जनसत्ता

Date:06-06-22

वनों की रक्षा

संपादकीय

संरक्षित वनों, राष्ट्रीय वन्यजीव अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों को मानवीय गतिविधियों से दूर रखने और बचाने के लिए सुप्रीम कोर्ट ने जिस तरह का सख्त रुख अख्तियार किया है, वह पर्यावरण को बचाने की दिशा में निश्चित रूप से बड़ा कदम है। वन संरक्षण को लेकर जनहित याचिकाओं की सुनवाई करते हुए अदालत ने अपना रुख साफ कर दिया कि पर्यावरण संरक्षण के मामले में कहीं कोई ढील या लापरवाही नहीं बरती जा सकती। इस मामले में अदालत ने एक महत्वपूर्ण आदेश जारी करते हुए हर संरक्षित वन क्षेत्र में पर्यावरण के लिहाज से संवेदनशील क्षेत्र बनाने को कहा है। इस क्षेत्र का दायरा कम से कम एक किलोमीटर का होगा। इस एक किलोमीटर के दायरे में किसी भी तरह की निर्माण, खनन, कारखाना, फैक्ट्री या औद्योगिक इकाई या ऐसी कोई भी मानवीय गतिविधि जो जंगल और उसके पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाली हो, प्रतिबंधित रहेगी। इस प्रतिबंधित दायरे में किसी भी तरह का स्थायी निर्माण नहीं किया जा सकेगा। लगता है सुप्रीम कोर्ट को यह सख्त उठाने को मजबूर इसीलिए होना पड़ा कि वनों के बचाने में राज्य सरकारें नाकाम साबित होती दिख रही हैं और वन क्षेत्र में ऐसी गतिविधियां तेजी से बढ़ रही हैं जो उन्हें भारी नुकसान पहुंचा रही हैं।

देखा जाए तो संरक्षित वन क्षेत्रों की रक्षा का काम राज्य सरकारों का है। हर राज्य में वन विभाग का अलग बड़ा महकमा होता है। इसके पास संसाधनों से लेकर अधिकारों तक में कोई कमी हो, ऐसा भी नहीं लगता। फिर भी हैरानी की बात यह है कि संरक्षित वन क्षेत्रों के लिए खतरा बढ़ता जा रहा है। वन क्षेत्रों में कटाई से लेकर अतिक्रमण की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। हालांकि संरक्षित क्षेत्र में स्थानीय लोगों को वनोपज पैदा करने और अपने मवेशी चराने की छूट रहती है। पर

देखने में आता है कि वहां लोग कब्जा कर लेते हैं, निर्माण कर लेते हैं, लकड़ियां काटते हैं और इस तरह संरक्षित वन क्षेत्र की वन संपदा को हर तरह से नुकसान पहुंचता रहता है। अगर ऐसी गतिविधियों पर रोक नहीं लगाई जाती है तो निश्चित रूप से संरक्षित वन एक न एक दिन आपना प्राकृतिक स्वरूप खो बैठेंगे और अंतत: इसका खमियाजा पर्यावरण विनाश के रूप में मनुष्य को ही उठाना पड़ेगा। सरकारें चाहें तो संरक्षित वन में वे संवेदनशील क्षेत्र का दायरा बढ़ा भी सकती हैं, लेकिन एक किलोमीटर का दायरा तो न्यूनतम रखना ही होगा।

दरअसल वन भूमि पर अतिक्रमण एक बड़ी समस्या है। शहरों के विस्तार ने इसे और बढ़ाया है। हालांकि बढ़ती मानवीय जरूरतें इसका बड़ा कारण हैं। आबादी और उसकी जरूरतें बढ़ने के साथ शहरों का दायरा बढ़ना स्वाभाविक ही है। आज शहरों और महानगरों का जो विस्तार हो रहा है, उसमें वन भूमि को बचा पाना आसान नहीं है। फिर, शहरीकरण को ही विकास का पर्याय बना दिया गया है। ऐसे में मानवीय गतिविधियों को सीमित कर पाना कैसे संभव होगा? वन संरक्षण कानून लाया ही इसलिए गया था कि वनों से पेड़ों की अवैध कटाई रोकी जा सके। लेकिन पिछले कुछ दशकों में जंगलों का जिस तेजी दोहन होता गया, उसने बड़े खतरे खड़े हो गए। पर्यावरण संतुलन गड़बड़ा गया है और इसका खमियाजा प्राकृतिक आपदाओं के रूप में सामने आ रहा है। जाहिर है, ऐसे में विकास और पर्यावरण में संतुलन बनाना ही होगा। संरक्षित वनों में संवेदनशील क्षेत्र बनाने की अनिवार्यता में सुप्रीम कोर्ट की यही चिंता छिपी है।

Date:06-06-22

धरती को बचाने की चुनौती

राजू पांडेय

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) के विशेषज्ञों ने हाल में जो आंकड़े जारी किए हैं, वे पर्यावरण संकट की भयावह तस्वीर पेश करते हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि हम अपनी आवश्यकताओं को इतना ज्यादा बढ़ा चुके हैं कि पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित दोहन हमारी मजबूरी बन गया है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो पारिस्थितिक तंत्र अधिक समय तक हमारा साथ नहीं दे पाएगा। पर्यावरण विशेषज्ञों की यह चेतावनी ऐसे वक्त में आई है जब धरती को बचाने के लिए पूरी दुनिया में आवाजें उठ रही हैं। इसीलिए इस बार विश्व पर्यावरण दिवस का केंद्रीय विषय 'ओनली वन अर्थ' यानी 'केवल एक पृथ्वी' ही रखा गया है। विश्व पर्यावरण दिवस की इस साल की मेजबानी स्वीडन के पास है। गौरतलब है कि 1972 में स्टाकहोम में हुए पहले संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण सम्मेलन के भी पचास साल पूरे हो रहे हैं।

देखा जाए तो बढ़ते वैश्विक तापमान ने पिछली आधी सदी में नए-नए संकट खड़े कर दिए हैं। विशेषज्ञ बार-बार इस खतरे की ओर इशारा कर रहे हैं कि अगले दो दशक में वैश्विक तापमान डेढ़ डिग्री सेल्सियस के स्तर को पार कर जाएगा। इससे बचाव के लिए इसे इस सदी के अंत तक डेढ़ डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने के लिए हमें 2030 तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को आधा करना होगा। वर्तमान में पेरिस समझौते के तहत ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन के मापन के लिए राष्ट्रीय रूप से निर्धारित योगदानकर्ता कारकों (एनडीसीज) का विश्लेषण बताता है कि अगर हम इसी तरह लापरवाह बने रहे तो सदी के अंत तक वैश्विक तापमान 2.7 डिग्री सेल्सियस तक भी पहुंच सकता है। दरअसल प्राकृतिक गैस का महत्त्वपूर्ण घटक मीथेन वैश्विक तापमान बढ़ने के लिए पच्चीस फीसद उत्तरदायी है। जाहिर है, इससे बचाव के उपाय तलाशने में अब और देरी महंगी पड़ती जाएगी।

पारिस्थितिक तंत्रों के विनाश का असर दुनिया की चालीस फीसद आबादी पर पड़ा है। तीन अरब से ज्यादा लोग इससे प्रभावित हुए हैं। हम हर साल जितनी पारिस्थितिकीय तंत्र विषयक सेवाओं को खो देते हैं, वह वैश्विक अर्थव्यवस्था के सकल उत्पादन के दस फीसद से भी अधिक है। पर्यावरण पर आई रिपोर्टें बताती हैं कि विश्व की एक तिहाई कृषि भूमि नष्ट हो चुकी है, जबकि सत्तासी फीसद प्राकृतिक आर्द्रभूमि गायब हो चुकी है। जलवायु परिवर्तन ने विश्व में बाढ़, अकाल और असाधारण गर्मी के प्रकोप जैसी विभीषिकाओं को जन्म दिया है जिनके कारण न केवल करोड़ों लोग मारे गए या विस्थापित हुए हैं, बल्कि वैश्विक अर्थव्यवस्था को भी अरबों-खरबों डालर का नुकसान भी उठाना पड़ा है।

पूरी दुनिया में बढ़ता वायु और जल प्रदूषण गंभीर चिंता बन चुका है। मोटा अनुमान है कि वायु प्रदूषण के कारण हर साल सत्तर लाख लोग असमय मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। विश्व में हर नौ में से एक मौत वायु प्रदूषण के कारण होती है। हर दस में से नौ लोग खराब हवा में सांस लेने को मजबूर हैं। दुनिया के केवल सत्तावन फीसद देशों ने वायु प्रदूषण को कानूनी रूप से परिभाषित किया है। नवीनतम शोध बताते हैं कि दुनिया में तीन अरब से ज्यादा लोग केवल इस कारण स्वास्थ्य खतरों का सामना कर रहे हैं क्योंकि उन्हें भूमिगत जल की गुणवत्ता और इसके महत्त्व की जानकारी नहीं है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि जलीय पारिस्थितिक तंत्रों में डाले जाने वाले प्लास्टिक कचरे की मात्रा सन 2040 तक तीन करोड़ सत्तर लाख टन हो जाएगी। समुद्रों में बढ़ रहे प्लास्टिक प्रदूषण ने वैश्विक स्तर पर पर्यटन उद्योग, मत्स्य उद्योग एवं जल कृषि को केवल 2018 में उन्नीस अरब डालर का अनुमानित नुकसान पहुंचाया है।

दुर्भाग्य से अभी भी हमारी विकास प्रक्रिया इन संकटों की अनदेखी करती लगती है। सारी भयावह परिस्थितियां एक ही निष्कर्ष की ओर संकेत कर रही हैं और वह यह कि हमने अपनी आर्थिक समृद्धि पर्यावरण के विनाश की कीमत पर हासिल की है। नष्ट होते पारिस्थितिक तंत्रों ने महिलाओं, स्थानीय देशज समुदायों और हाशिये पर स्थित समूहों पर विनाशक प्रभाव डाला है। यदि हम प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्रों के विनाश पर रोक लगा दें और इसके साथ ही परिवर्तित भूमि के पंद्रह फीसद भाग को पहले की स्थिति में लाने में कामयाब हो जाएं, तो प्रजातियों के विलुप्त होने के खतरे में साठ फीसद की कमी आ जाएगी। यदि हमें वैश्विक तापमान को दो डिग्री सेल्सियस से नीचे रखना है, बढ़ती आबादी को खाद्य सुरक्षा देनी है और पौधों तथा जंतुओं की प्रजातियों को नष्ट होने से बचाना है तो विश्व के सभी देशों को सौ करोड़ हेक्टेयर नष्ट हुई कृषि एवं वन भूमि को पुन: पूर्वस्थिति में लाने के अपने वादे पर अमल करना चाहिए। और इसी प्रकार का संकल्प समुद्री और समुद्र तटीय पारिस्थितिक तंत्रों के विषय में भी करना चाहिए।

पर्यावरण संरक्षण का प्रश्न बहुत जटिल है। स्टाकहोम में 1972 के सम्मेलन में यह विचार व्यक्त किया गया था कि पर्यावरण की निगरानी और संरक्षण के वे मानक जो विकसित देशों के लिए सहज प्रतीत होते हैं, संभव है कि पिछड़े देशों

की सामाजिक-आर्थिक संरचना के सर्वथा अनुपयुक्त हों। संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण और विकास पर केंद्रित 1992 के रियो सम्मेलन में सामान्य किंतु विभिन्नीकृत उत्तरदायित्वों (सीबीडीआर) का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। इसके अनुसार पर्यावरण के विनाश के लिए अलग-अलग देश अलग परिमाण में उत्तरदायी हैं। विकसित देशों द्वारा विश्व पर्यावरण पर डाले गए दबाव और उनके पास मौजूद उन्नत तकनीकी व आर्थिक संसाधनों के परिप्रेक्ष्य में सतत विकास के लक्ष्यों के संदर्भ में उन्हें अपनी जिम्मेदारी स्वीकारनी होगी। लेकिन आज तक ऐसा होता नहीं दिखा।

हकीकत में देखें तो विकसित देश पर्यावरण संरक्षण के वैश्विक समझौतों को ताक पर रखते हुए स्वच्छंद रूप से अपना विकास करते जा रहे हैं। विकसित देशों का रवैया यही रहा है कि भूतकाल में विकास प्रक्रिया की जैसी भी सहज दिशा रही, उसके कारण हम तो विकास के एक स्तर तक पहुंच ही चुके हैं और अब यहां से पीछे नहीं जा सकते। अब यह विकासशील देशों का उत्तरदायित्व है कि पृथ्वी को बचाने और जलवायु परिवर्तन पर नियंत्रण करने के लिए अपनी विकास प्रक्रिया पर अंकुश लगाएं। पृथ्वी के पारिस्थितिक तंत्रों को हुए नुकसान की भरपाई के लिए विकसित देशों को जितना खर्च करना है, उतना वे खर्च नहीं कर रहे हैं और अपनी जिम्मेदारियों से भी बच रहे हैं। यूएनईपी की रिपोर्ट इस तथ्य को रेखांकित करती है कि अपेक्षित व्यय और वास्तविक व्यय का यह अंतर बढ़ता ही जा रहा है। विकासशील देश बिना विकसित देशों और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के अपनी विकास प्रक्रिया को प्रदूषण मुक्त एवं पर्यावरण हितैषी नहीं बना सकते।

हम देखते हैं कि विकसित देश अपने प्लास्टिक कचरे का स्वयं निपटान करने के बजाय इसे विकासशील देशों में पुनर्चक्रण के लिए भेज देते हैं। नजरों से ओझल हो जाने पर यह प्लास्टिक कचरा समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि विकासशील देशों में प्रदूषण का कारण बनता है। 'केवल एक पृथ्वी' जैसी अवधारणा पर यदि हमें सच्चा विश्वास हो, तब ही हम समझ पाएंगे कि प्रदूषण दुनिया के किसी भी देश में हो, नुकसान तो हमारी पृथ्वी के पर्यावरण को ही हो रहा है। बहरहाल यूएनईपी की रिपोर्ट में बारंबार इस बात का उल्लेख मिलता है कि मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं है और उसका स्वामी तो कतई नहीं है। जब तक वह इस सत्य को स्वीकार नहीं करेगा तब तक हमारे पर्यावरण संरक्षण के प्रयासों में एक अपूर्णता बनी रहेगी।